खिड़कियों से नहीं, जमीन से आसमान देखने की चाहत में कविता

प्रफुल्ल कोलख्यान

नीलेश रघुवंशी का दूसरा काव्य संग्रह 'पानी का स्वाद' नाम लेकर आया है। नीलेश की 'हंडा' कविता ने हिंदी कविता से जुड़े लोगों का ध्यान बड़ी तेजी से खींचा था। इस कविता के लिए उन्हें 1997 का भारत भूषण अग्रवाल पुरस्कार भी मिला था। यह कविता नीलेश के पहले कविता संग्रह में संकलित है, लेकिन इस संग्रह का नाम उनकी एक अन्य महत्त्वपूर्ण कविता 'घर-निकासी' पर रखा गया। 'हंडा' की गूँज के मोह में पड़े बिना अगर कवि ने 'घर-निकासी' की ओर अधिक ध्यान खींचना चाहा तो उसके कारण भी हैं। इन कारणों को समझना आलोचना के लिए महत्त्वपूर्ण हो सकता है। इन्हें समझने के लिए कई महत्त्वपूर्ण दृष्टि-बिंदु 'घर-निकासी' में हैं। ये दृष्टि-बिंदु उनके दूसरे काव्य संग्रह 'पानी का स्वाद' में आकर दृष्टि-कोण में विकसित हुए हैं। इन दृष्टि बिंदुओं और दृष्टि कोणों पर हमारा ध्यान जाना चाहिए।

समय कठिन है। फिर भी ऐसा नहीं कि जीवन में आनंद बिल्कुल बचा ही न हो। चिंता की बात यह जरूर है कि आज जीवन में आनंद के आलोक की परिधि निरंतर छोटी होती जा रही है और आतंक के अंधकार का व्यास निरंतर बढ़ रहा है। फूल अब भी खिलते हैं। पंछी अब भी नीले आसमान में उड़ते हैं। चाहे जैसे, आनंद और आतंक के बीच चल रहा है अब भी जीवन का कारोबार। जीवन-राग के इसी कारोबार से कविता की संवेदना के प्राणतंतु समय के भाषिक आयाम से जुड़ते हैं। नीलेश रघुवंशी जीवन-राग को बड़े प्यार और ललक से अपनी कविता में उपलब्ध करती है। इस जीवन-राग में एक उदासी भी है जो झाँकती रहती है, जीवन से भी और कविता से भी। नीलेश 'उदासी' में कहती हैं, 'एक ही बात दोहराती हूँ बार-बार/ मैं उदास, बहुत उदास हूँ/ बार-बार दोहराने से बेहतर है/ बदल देना चाहिए उदासी को उजाले में।' उदासी को उजाले में बदल देना सचमुच बहुत जरूरी है। लेकिन इसमें मुश्किलें बहुत हैं। खासकर तब जब हम जीवन में और इसीलिए कविता में भी बाजार के आतंक को ठीक से झेल नहीं पाते हैं। क्योंकि आज के जीवन के आलोक और अंधकार का संबंध इस नये बाजार से बहुत ही गहरा है। उदासी यदि पुराने कपड़े हैं और चमचमाते नये बर्तन उजाले; तो इस चमचमाहट के लिए पुराने कपड़े का विनिवेश नहीं किया जा सकता है। हकीकत शायद यह भी है कि यह पुराना कपड़ा ही तन पर बचा है मन की लाज बचाने के लिए। प्रसंगवश मदन कश्यप के ''निर्बल पाखंडी' के बेचने और खरीदने के संदर्भ को यहाँ याद किया जा सकता है, 'मैं बेचना चाहता हूँ अपना थोड़ा-सा गुस्सा/ और खरीदना चाहता हूँ/ इस महान जनतंत्र के लिए थोड़ी-सी लज्जा'। न उदासी बिक रही है न गुस्सा! न उजाले हाथ आ रहे हैं, न लज्जा! न बेचना आसान है, न खरीदना! बेचने-खरीदने के इस झमेले से बाहर निकलना तो और भी मुश्किल है।

कुछ लोगों के लिए परंपरा को उतार फेकना बहुत आसान होता है, तो कुछ लोगों के लिए परंपरा से बाहर झाँकना भी असंभव गुनाह होता है! आज के सांस्कृतिक बरताव की मुख्य प्रवृत्तियों पर ध्यान देने से यह बात समझ में आती है। परंपरा के जीवित और मृत अंश में अंतर किये बिना कुछ लोग समग्र परंपरा को विखंडित कर बिल्कुल 'उत्तर-आधुनिक' हो जाने के दंभ में जीते हैं तो कुछ के लिए परंपरा में कुछ भी मृत नहीं होता है, सबकुछ जीवित ही होता है। दोनों ही प्रवृत्तियों में समानता यह कि इनमें जीवित और मृत में अंतर करनेवाले विवेक के विनियोग का कोई अवसर नहीं होता है। विवेक का उपयोग करने में बहुत कम अवसरों पर हम सावधान रह पाते हैं। 'विश्वास और समर्पण' के बाहर 'संदेह और प्रश्न' को हवा देना

परंपरा का माखौल उड़ाना और अवहेलना है। 'विश्वास और समर्पण' में 'संदेह और प्रश्न' के लिए भी सम्मानजनक जगह बनाना परंपरा का अंतर्वेधन है। नीलेश की कविताओं का स्वर इस अर्थ में महत्त्वपूर्ण है कि इसमें परंपरा को अवहेलित नहीं अंतर्वेधित कर आधुनिकता के मूल्यों को अर्जित करने की छटपटाहट है। इस छटप्टाहट का नारी स्वर नीलेश रघुवंशी की कविताओं की जान और पहचान दोनों है। 'रेलवे पुल पर' कविता को देखें तो, 'घर को पीठ पर लादकर/ साइकिल पर सवार हो, गोल-गोल घूमते पहियों के साथ/ फिरकी की तरह घूमती फिरूँ दुनिया सारी/ कँकरीले पत्थर, ऊबड़-खाबड़ रास्ते, खट्टे-मीठे किस्से सुनते-सुनाते/ घर को पीठ पर लादे/ रेलवे पुल पर खड़ी हो, भर देना चाहती हूँ जीवन को यात्राओं से/ तंग आ चुकी हूँ खिड़की से आसमान देखते-देखते।' शशांक की कहानी 'घंटी' को याद कर सकें तो खिड़की से आसमान देखते-देखते तंग आ चुकी लड़की के मनोभाव में निहित ऐतिहासकि परिप्रेक्ष्य के सामाजिक प्रसंग को समझना थोड़ा आसान होगा। 'खुली हवा' में आते ही, 'टहनियों को छूकर फूल-सी सुर्ख होतीं/ खिड़कियों से नहीं, जमीन से देखतीं आसमान/ सूरज के संग चली जा रही हैं लड़कियाँ// ... // खुली हवा में साँस लेना चाहती थीं लड़कियाँ।' लेकिन ये 'खुली हवा' बहुत खुली नहीं रह गई है! 'बच्चा सँभालने वाली लड़की' में देखा जा सकता है कि क्यों, 'सब कुछ के बाद भी लड़की खिली-खिली और खुश-खुश नहीं रहती/ उदास और अनमनी रहती है लड़की/ कहीं ऐसा तो नहीं कि/ लड़की जब-जब स्वप्न में जाती हो/ तब-तब बच्चे के रोने की आवाज उसके सपनों को तोड़ती हो।'

इस समय 'स्त्री-विमर्श' में है लेकिन, 'मिल जानी चाहिए अब मुक्ति स्त्रियों को/ आखिर कब तक विमर्श में रहेगी मुक्ति/ बननी चाहिए एक सड़क, चलें जिस पर सिर्फ स्त्रियाँ ही/ मेले और हाट-बाजार भी अलग/ किताबें अलग, अलग हों गाथाएँ/ इतिहास तो पक्के तौर पर अलग/ खिड़कियाँ हों अलग–/ झाँके कभी स्त्री तो दीखे स्त्री ही/ हो सके तो बारिश भी हो अलग// सिर पर तगाड़ी लिये दसवें माले की ओर जाती/ ओ कामगार स्त्री/ देखती हो कभी आसमान, कभी जमीन/ निपटाओ बखूबी अपने सारे काम-काज/ होने दो मुक्त अभी समृद्ध संसार की औरतों को/ फिलहाल संभव नहीं मुक्ति सबकी।' यहाँ स्त्री की लैंगिक और वर्गीय समस्याओं की जटिलताओं की संवेदनशील बारीकियों और अलगाव की आग्रही मनोवृत्तियों की जद्दो-जहद से निकला यह वयंग्य 'स्त्री-विमर्श' के प्रसंग में 'मुक्ति-विमर्श' के वर्गीय आधार तक को

टटोलता है। इस आधार पर नीलेश की नजर से ‘दिखते हैं ‘अब’ जो कहती हैं कि ‘सईदा पकड़ लिया तुम्हें धर्मालंबियों ने/ पेट को फाड़कर, भर दिए जलते चिथड़े!/ गर्भ के संग मारकर, गोद दिया माथे पर तुम्हारे ‘$’/ // शहर के संग जल रही थीं जब तुम/ आई भले घर की स्त्रियाँ और जी भर लूटीं उन्होंने दुकानें/ वे साड़ी और सिंदूर में थीं और तुम बुरके में// ले गईं ओ सारा सामान/ जो रातों-रात मध्यवर्ग से निकालकर, पहुँचाता उन्हें उच्च वर्ग में// दिखते हैं अब खून के छींटे, इंद्रधनुषी रंग से भरे गरबे में’। कहना न होगा कि गुजरात के दंगे ने हमारी पूरी सांस्कृतिक एवं सौंदर्य चेतना को तो बुरी तरह से आहत किया ही है, सोचने-समझने और सामाजिक विश्लेषण की नई चुनौतियों को भी हमारे सामने अश्लील ढंग से प्रक्षेपित किया है। गुजरात में गरबा का रंग सबसे गाढ़ा रहा है अब तक, लेकिन दंगाइयों को मालूम है कि खून से ज्यादा गाढ़ा और कुछ भी नहीं होता। दंगाइयों को रगों में दौड़ते हुए खून नहीं, सड़कों पर बिखरते हुए खून ही भाते हैं। दंगाई इस बार गरबा के रंग में खून के छींटे डालने में सफल रहे, आश्चर्य यह कि इसमें महिलाओं को भी अपने साथ लेने में वे कामयाब रहे। इस ऐतिहासिक घटना की संवेदनात्मक अनुगूँज आनेवाले दिनों में हमारा पीछा करती रहेगी और अपने वर्गीय विश्लेषण की माँग करती रहेगी। ऐसी ही एक अनुगूँज है— ‘दिखते हैं अब’।

नीलेश

यात्रा करते पिता और पिता की यात्रा दोनों को जानती है। वे जानती हैं कि कैसे माँ के तंगहाल सपने पिता और नोट के बीच सफर करते हैं। इसलिए उनके काव्य-स्वर में माता-पिता या स्त्री-पुरुष के बीच सिर्फ भौतिक, दैहिक और मानसिक संघर्ष ही नहीं संवाद की भी गुंजाइश कभी समाप्त नहीं होती है। संघर्ष करते-करते ‘बुढ़ापा में पहुँचे पिता’ और एहसास होता है कि ‘पिता पर बुढ़ापा अच्छा नहीं लगता/ हर किसी के आगे हाथ जोड़ देना/ अरे साहब, अरे साहब कहकर बातें करना/ जिससे अच्छे से बात करना चाहिए, झिड़कना उसे खामोखाँ/ बेमतलब के आदमी से घंटों बातें करना// ... // पिता बुढ़ापे में अच्छे नहीं लगते/ या शायद/ अच्छा नहीं लगता बुढ़ापा पिता पर’। नीलेश को मालूम है कि किस तरह पिता की जिंदगी ‘भट्ठी’ हो गई कि ‘कोयले की ढेर में दबी होती है आग/ जो आते ही पिता के हाथों लगती है सुलगने/ कितना हरा-भरा और लाल हो जाता है कोयला, धौंकते जब पंखा पिता/ उनके मजबूत हाथों और झुकी कमर के साथ सुलगती है भट्ठी/ हर सुबह भट्ठी जलाते पिता’। नीलेश की काव्य संवेदना तो बस ‘तोड़-मरोड़कर’ इतना चाहती है कि ‘इस दुनिया को तोड़-

मरोड़कर बनानी चाहिए एक नई दुनिया/ बेटी जिसमें इतनी पराई न हो।' और अपने-आप से 'प्रार्थना' इतनी कि 'वे जो मुझे छलते हैं बार-बार/ नदी की तरह बहती न जाऊँ उनके पास'।

इस संकलन में 'पहली रुलाई तक की डायरी' नाम से एक अलग खंड है। इस खंड की कविताएँ नौ महीने तक चलनेवाले सृजन के उस अनुभव का काव्य संदर्भ न सिर्फ हिंदी कविता को समृद्ध करती है बल्कि प्रजनन और सृजन के अंतर को भी संवेदना के धरातल पर सामने लाती है। साथ-साथ जारी बाहर-भीतर की इस सृजन प्रक्रिया की अनुभूति इतनी मनोरम है कि जिसे पाने का मन तो करे लेकिन पाने की अनुमति न हो! बच्चे के रोने की आवाज 'बच्चा सँभालने वाली लड़की' के सपनों को तोड़ती भले ही हो। लेकिन अपने एकांत में इस मीठी शिकायत का मौका कि 'तुमने तो मेरे पेट को खेल का मैदान बना रखा है' भी तो उसे ही मिलता है! सृजन से संवाद में रुचि रखनेवालों को 'पहली रुलाई तक की डायरी' बार-बार पढ़नी चाहिए! पानी है तो जीवन है। इसलिए एक अर्थ में पानी और जीवन एक दूसरे के पर्याय भी हैं। आनेवाले दिनों में पानी दुलर्भ हो जायेगा। जीवन भी। कविता और जीवन के ऐसे कठिन समय में 'पानी का स्वाद' एक बेहतर काव्यानुभव है।

इस सामग्री के उपयोग के लिए लेखक की सहमति अपेक्षित है।
सादर, प्रफुल्ल कोलख्यान